

30 नवम्बर, 2007 को 17.30 बजे ग्रामीण और औद्योगिक विकास अनुसंधान केन्द्र,
चंडीगढ़ में भारत के उपराष्ट्रपति श्री मोहम्मद हामिद अंसारी द्वारा दिया गया हक्सर
स्मृति व्याख्यान

30 नवम्बर, 2007
चंडीगढ़।

राजनीति में नैतिक शासन व्यवस्था

देवियो और सज्जनो,

कार्य दुष्कर है, क्षमता संदेहास्पद है। किसी भी समय पी. एन. हक्सर स्मृति व्याख्यान देने के लिए बुलाया जाना एक महान सम्मान की बात है। मेरे लिए यह और भी विशेष सम्मान की बात है क्योंकि मेरा संबंध भारतीयों की एक ऐसी पीढ़ी से है जिसने हक्सर साहेब के जीवन के दो चरणों- क्रियाशीलता और आत्मनिरीक्षण को देखा है। इस संबंध में मैं यह कहना चाहूंगा कि इनमें से कोई भी चरण पूरी तरह से अनन्य नहीं था। 1998 में अपनी मृत्यु के समय तक उनकी आस्थाओं की कुछ प्रमुख संरचनाएं-लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षवाद, समाजवाद और निर्गुट नीति दबाव में आ गई थी और ये चीजें उनके मोहभंग की स्थिति का कारण बनीं।

अनेक वर्ष पहले लिखे गए अपने संपादकीय 'मानव और विकास' में उन्होंने "नैतिक विश्व के बैनर को ऊपर उठाए रखने" की आवश्यकता पर बल दिया था तथा यह राय प्रकट की थी कि 'मानवीय आवेगों' और 'शाश्वत मूल्यों' की इतिहास में एक भूमिका होती हैं। अन्यत्र, उन्होंने भारतीय समाज द्वारा बदलते हुए समय के साथ "अपनी मूल्य व्यवस्था में नितांत भ्रम के लक्षणों" के प्रति आश्चर्य प्रकट किया। उन्होंने कहा कि, "शासन व्यवस्था के नैतिक स्वास्थ्य का संरक्षण और उसके पारिस्थितिकी संतुलन का अनुरक्षण न केवल भारत, अपितु इस समग्र धरती की उत्तरजीविता और विकास के लिए जरूरी शर्तें हैं।"

आज मेरा उद्देश्य इन संकल्पनाओं और उनके संबंध में भारतीय प्रत्युत्तरों की जांच करना है।

बीसवीं शताब्दी के महान क्रांतिकारी लियोन त्रोत्सकी ने मानव इतिहास के महत्वपूर्ण क्षणों में भावों की भूमिका का वर्णन किया है। 'हिस्ट्री ऑफ दि रशियन रिवोल्यूशन' जैसी अपनी उत्कृष्ट पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि

"जनसमूह किसी क्रांति में इसलिए शामिल नहीं होता कि उसके पास समाज के पुनर्निर्माण की कोई योजना तैयार होती है, बल्कि उसकी यह उत्कट भावना होती है कि वे पुरानी शासन व्यवस्था को बर्दाशत नहीं कर सकते। उन्होंने "क्रांतियुग में जनचेतना में आए बदलावों" का अध्ययन करने में आई दिक्कतों को निर्दिष्ट किया।

हम नैतिक विश्व और इसमें मनोवेगों की भूमिका किस प्रकार परिभाषित करेंगे? हक्सर ने भारत के लिए चुनौती के बारे में कहा है कि "उसे स्वयं को विशुद्ध रूप से स्वतंत्र, न्यायसंगत और मानवीय समाज के रूप में पुनरुज्जीवित करने तथा इसके साथ-साथ इसी प्रकार की विश्वव्यवस्था के लिए संघर्ष करने हेतु अपने साधनों, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक संसाधनों का इस्तेमाल करना चाहिए। ये एक ही उद्देश्य के दो भिन्न-भिन्न पहलू हैं क्योंकि एक मानवीय और शांत भारत, विश्व के आक्रामक माहौल में नहीं रह सकता।"

संचलनात्मक शब्द स्वतंत्र, न्यायसंगत और मानवीय है। इनका संबंध घरेलू और वैश्विक दृश्य से है। भारत 1947 में आजाद हुआ था और उसका संविधान 1950 में बना था। जिसमें न्याय के आयामों को परिभाषित किया गया है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक होना चाहिए। यह अनुक्रम वर्णानुक्रम के अनुसार नहीं है और इसके पीछे जो तर्क है उसे समझना मुश्किल नहीं है। सर्वसुलभ न्याय की बात आसानी से समझ आती है और इसे समझा भी गया है। इसका निहितार्थ यह है कि समाज में असमानता से उत्पन्न अन्याय को दूर किया जाए।

कानून में 'मानवीय' या मानवता को परिभाषित नहीं किया गया है। इसका शब्दकोश सम्मत अर्थ-परोपकारी या संवेदनशील है जो नैतिकता, आचार और दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में आता है। कानून में बात जो परिभाषित नहीं की गई है, उसे सामान्य प्रयोग में स्पष्ट किया गया है।

अमरीका में मानवीय समाज को "क्रूरता या अन्य कारणों से पशुओं की पीड़ा को रोकने के उद्देश्य से बनाए गए समूह" के रूप में परिभाषित किया गया है। वस्तुतः, 1877 में 'अमेरिकन ह्यूमन एसोसिएशन फॉर प्रोटेक्टिंग चिल्ड्रेन एंड एनीमल्स' अस्तित्व में आई थी। इसके आधार पर सुकरात की तार्किकता के अनुसार संभवतः कोई व्यक्ति यह तर्क दे सकता है कि एक ओर इस मानवता में समग्र रूप से मानवों के प्रति क्रूरता के निवारण को शामिल किया जा सकता है, दूसरी ओर यह मानवता और न्याय के बीच उपस्थित अपरिहार्य संपर्क की ओर भी ध्यान दिलाता है। इस तर्क के आधार पर न्यायसम्मत समाज को एक देख-रेख करने वाला समाज होना चाहिए।

आगे बढ़ने से पहले अन्य प्रश्नों पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। क्या सामाजिक शासन व्यवस्था और नैतिक व्यवस्था में कोई संपर्क होता है? क्या राजनीतिक आधार पर संबंधों की अवसंरचना संभव है? क्या ऐसे समाज रहे हैं जिन्होंने अपनी अवसंरचना और संबंधों को मूल्य आधारित न्याय व्यवस्था से रहित हो कर प्रधानतः या विशिष्टतः प्रकार्यात्मक आधार पर परिभाषित किया है? समावेशन और बहिष्करण के आधार पर इन समाजों का कार्यक्षेत्र क्या रहा है?

यह बहस इतिहास में लंबे समय से चल रही है। महाभारत में ऋषि वामदेव ने नीतिपरायण ढंग से कार्य करने की आवश्यकता पर बल दिया था: "नीतिपरायणता से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वे राजा जो

नीतिपरायणता का पालन करते हैं, सफल होते हैं.... जो राजा नीतिपरायणता की अवज्ञा करता है और निर्दयता से कार्य करने की इच्छा करता है, वह नीतिपरायणता से च्युत हो जाता है और वह नैतिकता और लाभ, दोनों से वंचित हो जाता है।"

समस्त कालाविधियों और सभी समाजों में इस संकल्पना का प्रसार दृष्टिगत होता है। रूसों ने यह शाश्वत प्रश्न सटीक रूप से उठाया था कि "यह मानते हुए कि मनुष्य जैसा है, वह वैसा ही है और कानूनों को इच्छानुसार बनाया जा सकता है, मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्यों सिविल मामलों में प्रशासन के कतिपय न्याय सम्मत नियम बनाए जाना संभव है?"

हमारे समय में महात्मा गांधी की शिक्षाओं और धर्म के बारे में अम्बेडकर की परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार धर्म "नीतिपरायण होता है, जिसका यह अर्थ है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में मानव और मानव के बीच उचित संबंधों का होना है।" यह एक सामाजिक आवश्यकता है। यह नैतिकता का सत्व भी है।

II

नई दिल्ली में स्थित राजघाट में जनता श्रद्धावश, सार्वजनिक हस्तियां रीति-रिवाजवश और पर्यटक उत्सुकतावश जाते हैं। समाधि से थोड़ी दूर पर एक शिलालेख में सात सामाजिक बुराइयां लिखी हुई हैं जो कि निम्नानुसार सूचीबद्ध हैं:-

- सिद्धांत विहीन राजनीति
- विवेक विहीन सुख
- परिश्रम विहीन धनोपार्जन
- चरित्र विहीन ज्ञान
- नैतिकता विहीन व्यापार
- सहृदयता विहीन विज्ञान
- त्याग विहीन उपासना

इनमें से प्रत्येक एक सैद्धांतिक वक्तव्य है जिसे व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से समझा जा सकता है, व्याख्या की जा सकती है और कार्यान्वित किया जा सकता है। मैं अपनी ओर से इनमें से प्रत्येक उक्ति के पहले शब्द में एक प्रतिरूप खोजना चाहता हूँ-सिद्धांत, विवेक, परिश्रम, चरित्र, नैतिकता, सहृदयता और त्याग। मानवीय क्रियाकलाप के विभिन्न रूपों का समाहार करते हुए वक्तव्यों के अंतिम शब्दों को एक साथ रखने पर एक सदृश प्रतिरूप की खोज की जा सकती है।

इसलिए गांधीवादी दृष्टिकोण में अंतश्चेतना मानवतावादी विचारों और नैतिक चरित्र को विकसित करने के लिए किए गए त्याग से प्रेरित होती है जो अपने कार्य में सैद्धांतिक दृष्टिकोण के बैनर को ऊपर उठाए रखता है। इसके विपरीत स्वार्थ से कार्य के प्रति असैद्धांतिक एवं अवसरवादी दृष्टिकोण विकसित होता है। इससे न तो न्याय और न ही मानवता की भावना पैदा हो सकती है। इस अभिधारणा के आधार पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मानव एक नैतिक प्राणी है जिसमें अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक आचरण में सही और गलत का विवेक होता है।

यहां हमारे सामने कुछ प्रश्न हैं। क्या सार्वजनिक नैतिकता के सिद्धांत, निजी नैतिकता से भिन्न हो सकते हैं? क्या कोई ऐसा समाज हो सकता है जिसके सार्वजनिक संस्थाओं के संचालन के नैतिक मानदंड अलग हों और नागरिकों के लिए उनके व्यक्तिगत क्षमता के मानक भिन्न हों? क्या इन मानदंडों से सार्वजनिक संस्था का उच्चतम स्वरूप-राज्य (क) अपने नागरिकों के मामले में और (ख) अन्तर राज्यीय संबंधों के मामले में संचालित होता है? दूसरे शब्दों में, क्या राज्य के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपने कार्यकरण में व्यवहार संबंधी मानकों का पालन करें?

अतः, अपने विचार-विमर्श के प्रयोजनार्थ हम आचरण के चार संभावित श्रेणियों के मानकों अर्थात् व्यक्तियों के लिए, संस्थाओं के लिए, अपने घरेलू क्षेत्राधिकार में राज्य के लिए और अन्य राज्यों के साथ अपने संव्यवहार के लिए राज्य को ले सकते हैं। इससे एक मूल प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या यह श्रेणीकरण वांछनीय है? क्या सद्गुण और नीतिपरायणता को चुनींदा रूप से आत्मसात किया जा सकता है? क्या यह वांछनीय नहीं होगा कि नैतिकता के मामले में समान सिद्धांत को अपनाया जाए?

गांधीवादी और नैतिकतावादी दृष्टिकोण यह होगा कि एक समान सिद्धांत और इसके अनुकूल संव्यवहार दोनों पर बल दिया जाए। तथापि, व्यवहार में चयनात्मकता ही मानक है। यह दृष्टिकोण निजी जीवन में नैतिकता की वांछनीयता को मानता है, किन्तु सार्वजनिक जीवन में वह उससे दूर जाने के कारण खोजता है। इस दृष्टिकोण के प्रस्तावक राष्ट्र समूह अन्तर-राज्यिक संबंधों से इसकी शुरुआत करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ ने यह आदर्श वक्तव्य दिया था। उन्होंने कहा था कि "मैं सार्वजनिक और निजी जीवन में नैतिकता में बहुत विश्वास करता हूं। तथापि, यह बात आपको अवश्य माननी चाहिए कि राष्ट्रों का आचरण इससे शासित नहीं किया जा सकता।" उन्होंने यह बात नहीं कही, मगर निस्संदेह उनका निहितार्थ यह था कि राज्य अपने वाह्य संव्यवहार में नैतिक मानकों से ऊपर होता है।

यह तर्क सीमित समयावधि तक रहा। राज्य के दुर्व्यवहार ने इसमें बहुत अधिक योगदान किया। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राज्यों के अबाधित आचरण को सीमाबद्ध करने के व्यवस्थित प्रयासों की शुरुआत हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इसे गति प्रदान की जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का मार्ग

प्रशस्त हुआ। पिछले सात दशकों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं में पूर्ण संप्रभुता और राज्यों के अबाधित व्यवहार के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। निस्संदेह, व्यवहार रूप में यह पिछड़ रहा है और इसे सिद्धांत रूप में न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता।

III

राज्यों के अपने घरेलू क्षेत्राधिकार संबंधी व्यवहार के संबंध में एक समानांतर विकास देखा गया। कानून के नियम का सिद्धांत और उत्तरदायी एवं जवाबदेह शासन के मामले में अब कोई विवाद नहीं है और इसका कार्यान्वयन लागातार किया जा रहा है। इससे पहले कि हम अपने समाज और राजव्यवस्था की वर्तमान स्थिति के किसी विशिष्ट क्षेत्र पर विचार विमर्श करें, मैं राज्यों की नैतिक संदिग्धता के अंधकार को दूर करने के लिए हमें सौंपे गए सामाजिक और राजनीतिक विकास के साधनों की संक्षेप में जांच करना चाहता हूं जो हमारे युग के नैतिक प्रकाश स्तंभ हैं। ये इस प्रकार हैं:

1. सिविल समाज का भूमंडलीकरण;
2. मूल और सार्वभौमिक मानव अधिकार; और
3. राज्य के कर्ताधर्ताओं के कार्यकरण में और अधिक पारदर्शिता के लिए विश्वव्यापी आंदोलन।

हमने इतिहास में ऐसे कालखंड देखे हैं जिनमें राज्यों ने (क) अपने घरेलू क्षेत्राधिकार, और (ख) राज्यों एवं जनता, जिन्हें वह समान आचरण के पात्र नहीं समझते थे, से संव्यवहार करते हुए भिन्न-भिन्न मानदंड या नैतिक मानदंड अपनाए हैं।

फिर भी, स्थिति पूरी तरह से अंधकारमय नहीं है। हम अपने देश में, अपने क्षेत्र में और इससे बाहर सक्रिय रूप से सिविल समाज से जुड़े आंदोलन देख रहे हैं जिनमें जनसाधारण का समर्थन किया गया है और राज्य के व्यवहार को नैतिक शासन के दायरे में वापस लाने का प्रयास किया गया है। संचार और परिवहन में प्रगति ने सिविल समाज से जुड़े आंदोलन के भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को सरल बना दिया है। मौलिक और सार्वभौमिक मानव अधिकारों के महत्व को बल देने में इस विकास ने न केवल राज्य के व्यवहार के आधारभूत मानक, अपितु व्यक्तियों के आपसी व्यवहार के मामले में महत्वपूर्ण भूमिका निभाही है। मानव अधिकार, अलग-अलग हद तक में स्वेच्छापूर्वक या बाह्य दबावों के कारण आभ्यांतरिक हो चुके हैं।

राज्य के व्यवहार में अधिकाधिक पारदर्शिता संबंधी अभियान, राज्य के कर्ता-धर्ताओं को जवाबदेह बनाने के लिए आरंभ किया गया था। स्वयं हमारे देश में 'सूचना का अधिकार' संबंधी आंदोलन को महत्वपूर्ण सफलता मिली है और विश्व स्तर पर इसे अग्रणी प्रयास के रूप में देखा जा रहा है। सुशासन एवं पारदर्शिता को कार्पोरेट संस्थाओं में अनिवार्य तत्वों के रूप में मान्यता मिल रही है और भविष्य में भी इसका महत्व बढ़ता चला जाएगा।

आज इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि स्वतंत्र, न्यायसंगत और मानवीय समाज वह है जो न केवल अपने नागरिकों, अपितु सभी लोगों के मौलिक मानव अधिकारों का सम्मान करता है और जिसमें राज्य की ऐसी अवसंरचना होती है जिसमें उसके कार्यकरण में पारदर्शिता होती है और जो स्वस्थ सिविल समाज के विकास को प्रोत्साहित करता है।

इसलिए अनैतिक और नीतिनिरपेक्ष व्यवहार धीरे-धीरे कम होकर व्यक्तिगत व्यवहार तक सीमित हो रहा है। आज इस समस्या का समाधान ढूंढने की चुनौती है क्योंकि व्यक्ति समाज के निर्माण के घटक होते हैं। वे समाज के राजनीतिक जीवन के प्रधान कर्ता-धर्ता होते हैं और वे अपने सिद्धांतों एवं आचरण द्वारा उसके चरित्र को निर्धारित भी करते हैं।

IV

इस तर्क को आगे बढ़ाने के लिए सामान्य से विशिष्ट की ओर जाना आवश्यक है। आज का भारतीय समाज, धर्म और परंपरा से अपने जुड़ाव के बावजूद, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपने व्यवहार में नीतिनिरपेक्ष है। इसका एक अच्छा उदाहरण है सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार।

राजनीतिक भ्रष्टाचार को निजी लाभ के लिए सार्वजनिक पद के दुरुपयोग के रूप में परिभाषित किया गया है। 1939 में महात्मा गांधी के उद्गारों से यह संकेत मिलता है कि स्वाधीनता से पहले के समय में भी यह उपस्थित था।

1949 में उर्दू के शायर जोश मलीहाबादी ने 'रिश्वत' नामक अपनी कविता में घूसखोरी के बारे में जनअवधारणा को व्यक्त किया है। एक चतुष्पदी में इस संबंध में कहा गया है:

लोग हम से रोज़ कहते हैं यह आदत छोड़िए
ये तिजारत है ख़िलाफ़त-ए-आदमियत छोड़िए
इस से बदतर लत नहीं है कोई, ये लत छोड़िए
रोज़ अखबारों में छपता है कि रिश्वत छोड़िए
कविता के अंत में वह अपने शेर में इस स्थिति पर घृणा व्यक्त करते हुए, कहते हैं-
इल्लत-ए -रिश्वत को इस दुनिया से रुख़सत कीजिए
वरना रिश्वत की धड़ल्ले से इज़ाज़त दीजिए ।।

1951 में ए. डी. गोरवाला रिपोर्ट में इस संबंध में विशिष्ट टिप्पणियां की गई थीं। 1964 में संथानम समिति ने नोट किया कि "यह व्यापक धारणा है कि ईमानदारी बरतने के मामले में मंत्रियों के बीच विफलता असामान्य नहीं है और कुछ मंत्रियों ने, जो पिछले सोलह वर्षों से पद धारण किये हुए हैं, गैर-कानूनी रूप से धनार्जन किया है।" इसमें भाई-भतीजावाद तथा 'सार्वजनिक जीवन में शुद्धता के दृष्टिगत अन्य असंगत लाभों' की भी बात की गई है। हाल ही में 1995 की एन. एन. वोहरा रिपोर्ट के

प्रकाशित अंशों में 'देश के विभिन्न भागों में आपराधिक गुटों, पुलिस, नौकरशाही और राजनीतिज्ञों के बीच के अंतःसंबंध स्पष्ट रूप से सामने आए हैं। विद्यमान आपराधिक न्याय व्यवस्था, जिसे अनिवार्यतः व्यक्तिगत अपराधों/जुर्मों से निबटने के लिए बनाया गया था, माफिया की गतिविधियों से निबटने में असमर्थ है। आर्थिक अपराधों संबंधी कानूनी उपबंध कमजोर हैं।"

1997 में भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ने एक स्पष्ट टिप्पणी की थी कि "निवारक तत्व लगभग अनुपस्थित है। जन अवधारणा यह है कि जवाबदेही को लागू करने संबंधी तंत्र का नियंत्रण स्वयं उन लोगों द्वारा किया जाता है जिनकी जवाबदेही को लागू किए जाने की आवश्यकता है। कानून लागू करने वाली सभी संस्थाओं में जवाबदेही का अभाव है। उनके बीच अंतर केवल अभियोज्यता की मात्रा का ही है।" उन्होंने "सार्वजनिक जीवन में नैतिक आचरण का समावेश करने के लिए समन्वित प्रयास" किए जाने की वकालत की।

अगस्त 2004 में प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह ने भ्रष्टाचार की समस्या को सरकारी स्तर पर स्वीकार किया। राज्य की सी. बी. आई. और भ्रष्टाचार विरोधी ब्यूरो के अधिकारियों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा:-

"सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार की समस्या उन सभी लोगों के लिए बड़ी चिंता का विषय है जो नए भारत, सर्वसमावेशी समाज, प्रगतिशील समाज, गतिशील अर्थव्यवस्था और संवेदनशील राजव्यवस्था के निर्माण में दिलचस्पी रखते हैं। स्वतंत्रता दिवस के अपने संबोधन में मैंने कहा था कि सार्वजनिक जीवन में नैतिक आचरण का मसला हमारे लोगों को बार-बार उत्तेजित करता है। हमने पिछले कुछ समय से यह प्रयास किया है कि भ्रष्टाचार के बढ़ने से हमारी राजव्यवस्था के सामने उपस्थित चुनौतियों से निबटने के लिए संवैधानिक, विधायी और प्रशासनिक साधन तलाश किए जाएं। मैंने अपने भाषण में कहा था कि अब समय आ गया है कि हम सभी इस पर सहमति बनाएं कि सभी राजनीतिक दलों के लिए एक आचार संहिता हो, सार्वजनिक जीवन में सभी व्यक्तियों के लिए नैतिक संहिता हो और सरकार में सभी स्तरों पर सर्वोत्तम संव्यवहार संबंधी संहिता हो।"

सरकार के शीर्ष स्तर से दिया गया यह वक्तव्य समस्या की गंभीरता की ओर संकेत करता है तथा यह सिविल समाज की अवधारणाओं से पर्याप्त रूप से पुष्ट होता है। जनमत और व्यापार समुदाय के सर्वेक्षणों पर आधारित 'दि करप्शन परसेप्शन इंडेक्स ऑफ ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल' में 2007 में भारत के 10 (उच्च रूप से स्वच्छ) के पैमाने पर 3.5 अंक दिए गए हैं। पूर्ववर्ती वर्षों के तदनुकूल आंकड़े थे- 3.3, 2.9 और 2.8। भारत का 179 राष्ट्रों की सूची में 72वां स्थान दर्ज किया गया है।

इस स्थिति का निहितार्थ दूरगामी एवं बहुआयामी है। आज चुनौती है कि इस समस्या को समग्रता में समझकर उसका मुकाबला करना। भ्रष्टाचार उतना ही नैतिक मुद्दा है जितना कि विकास का

मुद्दा होता है। यह निवेश परियोजनाओं और अन्य वाणिज्यिक कारोबारों में निर्णय लेने की प्रक्रिया को विकृत कर देता है। यह समाज के सामाजिक और राजनीतिक ढांचे की नींव को प्रभावित करता है। इससे अन्याय में वृद्धि होती है और कानून के शासन का अपमान होता है। इस प्रकार इसे संस्थाओं की मूलभूत दुर्बलताओं के लक्षण के रूप में देखा जाना चाहिए। इसलिए, सुधारात्मक उपायों के लिए मूलभूत संस्थागत अभिनिर्धारकों के समूहों पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

राजनीतिक व्यवस्था ने किस हद तक इस रुग्ण स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है? इसका एक अच्छा उदाहरण है दिसम्बर, 1998 में राज्य सभा की आचार समिति की पहली रिपोर्ट। इसके आरंभिक पैरा में यह कहा गया है:

सार्वजनिक जीवन से जुड़े व्यक्तियों के जीवन में समाज के नैतिक और आचार संबंधी विषयों का काफी महत्व होता है क्योंकि लोगों द्वारा उनके आचरण पर पैनी नजर रखी जाती है। सार्वजनिक जीवन में मूल्यों की आम गिरावट पर संबद्ध वर्गों द्वारा चिंता व्यक्त की जा रही है। समिति ने स्वयं नोट किया है कि सार्वजनिक जीवन में नैतिक और सदाचार मानकों में आम तौर पर गिरावट आई है। यद्यपि समिति ने यह महसूस किया कि यह एक गंभीर प्रवृत्ति है, परंतु समिति इस निराशा से पूर्णतः सहमत नहीं है.....

यह एक आम भावना है कि हमारी राजनीतिक प्रणाली, जो कि भारी दबाव में काम कर रही है, के साथ सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है। ऐसी स्थिति में, जन प्रतिनिधियों को सार्वजनिक जीवन में आचरण के उच्च मानक स्थापित करने होंगे। संसद सदस्यों को न केवल समाज का प्रतिनिधित्व करना है अपितु उसका नेतृत्व भी करना है। अतः, उन्हें रोल मॉडलों के रूप में कार्य करना है और स्वाभाविक रूप से इससे उनके ऊपर भारी दायित्व आता है.....

समिति नोट करती है कि हमारे स्वतंत्रता सेनानियों और राष्ट्रीय नेताओं ने सार्वजनिक जीवन में आचार संबंधी उच्च और नैतिक मानक स्थापित किए थे और उन्होंने उन सिद्धांतों का निष्ठापूर्वक पालन किया था। समिति दुख के साथ यह टिप्पणी करती है कि अब इस प्रवृत्ति में गिरावट आती जा रही है।

समिति ने राजनीति के अपराधीकरण के मुद्दे पर ध्यान दिया और यह महसूस किया है कि राजनीतिक दलों के स्व-नियामक तंत्र के माध्यम से ही इससे निबटा जा सकता है। इसने राज्य सभा के सदस्यों के लिए सामान्य स्वरूप की आदर्श आचार संहिता की सिफारिश की है।

अगस्त, 2002 में आयी आचार समिति की तीसरी रिपोर्ट में यह राय प्रकट की गई कि "नैतिक प्रश्न का मुख्यतः किसी व्यक्ति की अंतरात्मा से संबंध होता है" और इसलिए उससे पूरी तरह से विधान बनाकर नहीं निबटा जा सकता।

इस प्रकार यह तर्क अपने आरंभिक मुद्दे पर आ जाता है। सार्वजनिक जीवन में नैतिक आचरण का संबंध अंततः अंतरात्मा का सही और गलत, अच्छा और बुरा, न्यायसंगत और अन्याय संगत, मानवीय एवं क्रूर से संबंधित नैतिकता एवं मूल्य बोध का मामला हुआ। इसलिए व्यक्तियों के सार्वजनिक एवं निजी व्यवहार में अवधारित द्विभाजन नैतिक आधार पर विद्यमान नहीं होता है और इसका अस्तित्व संव्यवहार में नहीं होता। इससे यह माना जाता है कि किसी व्यक्ति को राज्य के कार्यकरण के किसी भी पहलू के साथ नैतिक रीति से कार्य करना चाहिए, तब यह राज्य और इसके साथ-साथ सिविल समाज का कर्तव्य हो जाता है कि वह उपयुक्त साधनों और सामाजिक दबावों के जरिए इसे सुनिश्चित करे। केवल तभी हम यह देख पाएंगे कि भ्रष्ट व्यक्ति को न केवल दंडित किया जाएगा, बल्कि बहिष्कृत भी किया जाएगा।

दूसरे शब्दों में समय-समय पर अंतरात्मा को झकझोरा जाना चाहिए। राज्य और सिविल समाज का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे मामलों में सक्रिय तरीके से कार्य करे। केवल तभी सार्वजनिक जीवन में नैतिक शासन सार्थक हो पाएगा और भविष्य के भारत को स्वतंत्र, न्यायसंगत एवं मानवीय बनाया जा सकेगा।

धन्यवाद।